अध्याय - २

प्रारम्भिक काल (सन् १८७७ ई० - १९१७ ई०)

आमुख : जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, `नावेल` भारत में ही नहीं वरन् उसके मूल जन्म-स्थान योरोप में भी पुनर्जागरण युग की उपज है। डेनियल डीफो (१६६१ - १७३१ ई०), जोनाथन स्विफ्ट (१६६७-१७४५ ई०), रीचार्डसन (१६८९-१७६१ ई०), तथा फिल्डींग (१७०७-१७५४ ई०) इस नये साहित्यरूपी रथ के चार पहिये हैं। परन्तु भारत में इस विधा का प्रचलन उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी के माध्यम से हुआ। अंग्रेजी भाषा एवं साहित्य का प्रथम और सर्वाधिक प्रभाव बंगला में परिलक्षित होता है। उपन्यास भी सर्वप्रथम बंगला में ही आया है। वैसे भवानीचरण वन्दोपाध्याय कृत `नवबाबू विलास` का प्रणयन १८२५ ई० में ही हो चुका था, परन्तु अधिकांश विद्वान् टेकचन्द ठाकुर कृत `आलालेर घरेर दुलाल` (१८५७ ई०) को बंगला का प्रथम उपन्यास मानते हैं। पदमनजी बाबाजी कृत मराठी उपन्यास `यमुना पर्यटन` भी इस वर्ष की रचना है। इस के नौ वर्ष बाद नन्दशंकर तुलजाशंकर महेता द्वारा लिखित प्रथम गुजराती उपन्यास `करणघेलो` सन् १८६६ ई० में प्रकाशित होता है। हिन्दी का प्रथम उपन्यास `भाग्यवती` (पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी) सन् १८७७ ई० में लिखा गया। अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय वांगमय में उपन्यास-लेखन का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से हुआ।

`भाग्यवती` के लेखक पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी से लेकर लाला श्रीनिवासदास, राधाकृष्णदास, बालकृष्ण भट्ट, लज्जाराम शर्मा, किशोरी लाल गोस्वामी, ठाकुर जगमोहन सिंह, ब्रजनन्दन सहाय, बाबू देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी प्रभृति लेखकों ने हिन्दी उपन्यास साहित्य को रचना-संख्या की दृष्टि से समृद्ध किया और उसे अभूतपूर्व ख्याति दिलायी। परन्तु प्रारम्भकालीन उपन्यासकारों में वह औपन्यासिक प्रौढ़ता एवं परि-

पक्वता नहीं मिलती जिसके सर्वप्रथम दर्शन हमें मुंशी प्रेमचन्दजी में होते हैं। भारत के इतिहास एवं राजनीति में जो स्थान महात्मा गांधी का है वही स्थान हिन्दी के कथा-साहित्य में मुंशी प्रेमचन्दजी का है। उन्होंने हिन्दी- कथा-साहित्य और विशेषत: उपन्यास को एक विस्तृत दायरा प्रदान किया। प्रेमचन्दजी पहले उर्दू में लिखते थे, बाद में हिन्दी में लिखना शुरू किया। हिन्दी में उनका उपन्यास `सेवासदन` सर्वप्रथम सन् १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ। अत: हिन्दी उपन्यास का यह प्रारम्भिक काल सन् १८७७ई० से लेकर सन् १९१७ तक माना जाता है।

युगीन - चेतना

साहित्य के निर्माण में युगीन चेतना का अर्थात् युग की राजनैतिक, सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का विशेष योगदान होता है। साहित्य के विभिन्न रूप युगीन चेतना की मिट्टी से ही निर्मित होते हैं। सूर और तुलसी यदि आधुनिक काल में पैदा होते उनके साहित्य का स स्वरूप निश्चित ही भिन्न होता। अत: यहां उन्नीसवीं शताब्दी की राजनीतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक परिस्थितियों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

राजनीतिक परिस्थिति : इस युग के आने तक एक ओर मुगलों का वैभव अपनी विलासिता में डूब गया तो दूसरी ओर मराठा-शक्ति उसके सरदारों की संकुचित दृष्टि एवं परस्पर के वैमनस्य से क्षीण हो गई। वैलेजली और डलहौजी की नीतियों से देशी नरेश अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बन गये। सन् १८५७ के स्वाधीनता संग्राम ने राष्ट्रीय अस्मिता के दीपक को पुन: प्रज्वलित करने का प्रयास किया, किन्तु उसमें बुरी तरह से असफलता मिली। ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर भारत का शासन अपने हाथ में ले लिया। रानी विक्टोरिया ने भारतीयों को मधुर प्रलोभन देकर नयी चेतना का सूत्रपात किया। सन् १८८५ ई० में सर ए० ओ० ह्यूम, व्योमेशचन्द्र बेनरजी आदि के प्रयत्नों से राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस

की स्थापना हुई । प्रारम्भ में तो अनेक वर्षों तक केवल वार्षिक जलसे तथा लम्बे चौड़े व्याख्यानों -- जिनमें सरकार बहादुर की प्रशंसा के पुल बांधे जाते थे --- के अतिरिक्त और कोई ठोस कार्य इसके ४न द्वारा नहीं हुआ, परन्तु बाद में क्रमश: यह अधिक विकसित, विवेकसम्पन्न एवं शक्तिशाली होती गई । दादाभाई नवरोजी ने सर्वप्रथम `स्वराज` शब्द की घोषणा की । सन् १६०५ ई० में लोकमान्य तिलक ने `स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है` का मूलमन्त्र दिया । इसी समय कांग्रेस में नरम दल और गरम दल नामक दो दलों की स्थापना हुई । लार्ड कर्जन की बंगाल -विभाजन की नीति ने भारतीयों के हृदय में सन्देह पैदा किया । सन् १६०७ ई० में `मार्ले-मिन्टो सुधार` कानून पास हुआ, जिस में मुसलमानों को अलग प्रतिनिधित्व मिला । अंग्रेजों की नीति प्रारम्भ से ही `डिवाइड एण्ड रुल` की रही है । इससे हिन्दू-मुस्लिम एकता को भयंकर धक्का पहुंचा और उनके बीच एक दरार पैदा हुई जो निरन्तर बढ़ती ही गई ।

सामाजिक स्थिति : विवेचित युग की एक महान सामाजिक घटना है --मध्य वर्ग का उदय । उन्नीसवीं शताब्दी से पहले भारत में इस वर्ग का कोई अस्तित्व नहीं था । केवल दो ही वर्ग थे -- उच्च वर्ग एवं निम्न वर्ग । परन्तु अंग्रेजों ने अपनी प्रशासकीय आवश्यकता की पूर्ति के लिए नवीन अंग्रेजी शिक्षा की नींव डाली । सर्व -प्रथम सन् १८०० ई० में कलकत्ता में फोर्ट विलयम कालेज की स्थापना हुई । सन् १८५७ ई० तक आते-आते तो बम्बई, मद्रास और कलकत्ता में विश्व-विद्यालयों की स्थापना भी हो गई जिससे उच्च शिक्षा के प्रचार व प्रसार में यथेष्ट सहायता हुई । इस नवीन शिक्षा पद्धति ने मध्य वर्ग को जन्म दिया यह नवोदित मध्य वर्ग ही इस युग की चेतना का प्रमुख संवाहक रहा, क्योंकि इस मध्य-वर्ग ने यूरोपीय ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की थी और वह बौधिक पिपासा और प्रगति की आकांक्षा से ओतप्रोत था और उसी पर समाज के नवनिर्माण का उत्तरदायित्व था, क्योंकि उच्च वर्ग स्थान-च्युत

आर्थिक विषमताओं से पीड़ित और नवीन प्रभावों से दूर था और बहुसंख्यक निम्न-वर्ग अशिक्षित तथा अन्धकार में लिप्त, फलत: कुछ कर सकने में असमर्थ था ।"[1]

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है उच्च-वर्ग क्रमश: खोखला होता जा रहा था । सामन्तवादी मूल्य टूट रहे थे । हीनता-ग्रन्थि से पीड़ित उच्च वर्ग अंग्रेजों के रहन-सहन का अन्धानुकरण तथा उनकी झूठी प्रशंसा से रावबहादुर या रायबहादुर जैसे खिताबों को बटोरने में लगा हुआ था । दूसरी ओर बहुजन समाज प्राचीन रूढ़ीवादिता से पीड़ित था । स्त्रियों की स्थिति शोचनीय थी । वह पुरुषों की चरणदासी मात्र रह गई थी । बालविवाह, सती-प्रथा, वेश्यावृत्ति का समर्थन एवं विधवा-विवाह निषेध आदि अनेक सामाजिक कुरीतियां समाज में व्याप्त थीं । "परन्तु आधुनिक नवीन शिक्षा पद्धति, प्रेस, रेल, तार तथा अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप भारतीय जीवन का चौमुखी संस्कार होने लगा था ।[2] "और नवोदित मध्य-वर्ग की समग्र मानसिक-बौद्धिक चेतना इस रूढ़ीवादिता एवं पोंगा-पन्थी रोकने की यथेष्ट चेष्टा कर रही थी ।

धार्मिक स्थिति : वस्तुत: इस काल की धार्मिक स्थिति को सामाजिक स्थिति से अलगाना कठिन है । क्योंकि दोनों परस्परावलम्बित हैं, किन्तु विवेचन की सुविधा के विचार से यहां इस समय की धार्मिक परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार किया जा रहा है । धर्म के क्षेत्र में बाह्याचार एवं बाह्याडम्बर का बोलबाला था । कोई भी धर्म जब केवल आचारलक्षी हो जाता है तब उसके मूल एवं व्यापक तत्व विस्मृत हो जाते हैं । ढोंग और ढकोसला बढ़ जाता है । अस्तु,

---

१. डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय : " हिन्दी उपन्यास : उपलब्धियां " : पृ० १० ।

२. वही : पृ० १० ।

हिन्दू धर्म भी अन्धविश्वासों तथा बाह्याचारों से के अन्धकार से ग्रसित हो गया था । परन्तु इस ब्रह्म-समाज, आर्य-समाज तथा प्रार्थना-समाज जैसे कतिपय धार्मिक आन्दोलनों ने हिन्दू धर्म के ~~मिथ्य~~ मूल स्वरूप को उजागर करने का भरसक प्रयत्न किया तथा बाह्याचारों पर कठोर प्रहार किये । सन् १८२८ ई० में राजा राममोहनराय ने ब्रह्म-समाज की स्थापना की । यह समाज बहु-देवी-देवताओं का विरोध करता है तथा एकेश्वरवाद की भावना पर बल देता है । इस में मूर्ति-पूजा का भी विरोध किया जाता है । राजा राममोहनराय की मृत्यु के पश्चात् महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा केशवचन्द्र सेन आदि ने उनका प्रचार कार्य आगे बढ़ाया । कोई भी सामाजिक सुधार स्त्री-शिक्षा के अभाव में विकसित नहीं हो सकता । अस्तु इस समाज में स्त्री-शिक्षा पर भी जोर दिया जाता है । आगे चलकर स्वामी विवेकानन्द ने भारतीय धर्म-साधना को नये आलोक में व्याख्यायित करके एक नयी चेतना का संचार किया ।

परन्तु इन धार्मिक सुधारवादी आन्दोलनों में सर्वाधिक महत्व आर्यसमाजी आन्दोलन का है । जिसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३ ई०) संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित एवं वेदों के जानकार थे । उन्होंने वैदिक धर्म का प्रचार किया । वेद द्वारा अनुमोदित धर्म ही उनके अनुसार सच्चा धर्म था । रूढ़िवादिता और अन्धविश्वासों का विरोध बालविवाह का विरोध, मूर्ति-पूजा का विरोध, जातिवाद का विरोध विधवा-विवाह का समर्थन, स्त्री-शिक्षा का प्रचार, हिन्दी भाषा का प्रचार आदि आर्य-समाज की मुख्य प्रवृत्तियां हैं । शिक्षित, अर्द्ध-शिक्षित, अशिक्षित सभी वर्गों में आर्य-समाज को मान्यता मिली है-थी और उसने विवेचित काल के समाज को अनेक स्तरों पर प्रभावित किया था ।

उक्त सुधारवादी चेतना के बावजूद सनातनधर्मी प्रवृत्तियां भी पनप रही थीं । सनातनधर्मी प्राचीन संस्कृति को पुनर्जीवित कर प्राचीन परम्पराओं एवं धार्मिक मान्यताओं में लोगों की आस्था पुनः जगाना चाहते थे । वे पश्चिमी सभ्यता के घोर विरोधी थे । नारी शिक्षा का वे पूर्ण विरोध तो नहीं करते थे परन्तु स्कूल-कालेज की शिक्षा स्त्रियों

के लिए अनिवार्य नहीं मानते थे। मूर्ति-पूजा एवं बाल-विवाह का भी वे समर्थन करते थे। हिन्दी के प्रारम्भिक उपन्यासकारों में मूर्धन्य उपन्यास - कार किशोरीलाल गोस्वामी सनातनपन्थी थे। वे मुसलमानों के भी प्रखर विरोधी थे।

अस्तु, इस काल में समाज एक संक्रांति से गुजर रहा था। समाज एवं उसके मूल्य निरन्तर परिवर्तित हो रहे थे। जीवन के प्रति दृष्टिकोण में एक नवीनता एवं ताजगी आयी थी। पौराणिकता के स्थान पर वैज्ञानिकता और कट्टरता के स्थान पर एवं धर्मान्धता के स्थान पर मानवोचित उदारता बढ़ रही थी। अंग्रेजी शासन एवं शिक्षा, नगरों का विकास, यन्त्रों का आविष्कार, नये-नये कल-कारखानों की स्थापना आदि कारणों से समाज में मध्य-वर्ग का उदय हुआ। इस मध्य-वर्ग की वैयक्तिक स्वतन्त्र चेतना को उपन्यासों में ही वाणी मिल सकती थी। निरन्तर परिवर्तित समाज की गति का अंकन करने की सर्वाधिक क्षमता उपन्यास में ही है। अत: इस युग में उपन्यास-साहित्य का उदित एवं विकसित होना स्वाभाविक था।

<u>हिन्दी का प्रथम उपन्यास</u> : यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है। वस्तुत: उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्राय: सभी प्रमुख भारतीय भाषाओं में उपन्यास मिलने लगते हैं। अत: हिन्दी में भी ऐसे प्रयास हुए हैं। इन प्रयासों में किसे उपन्यास के अधिक समीप माना जाय, यही समस्या है। सन् १८७० ई० में पण्डित गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी की कहानी' नामक गद्य-कथा मेरठ से प्रकाशित होती है। परन्तु इसे उपन्यास न कहकर एक गद्य-कथा कहना ही अधिक उचित है। इसके दो वर्ष बाद सन् १८७२ ई० में मुंशी ईश्वरीप्रसाद और मुंशी कल्याणराय ने 'वामा शिक्षक' नामक एक स्त्री-शिक्षा प्रधान कथा लिखी परन्तु वह ११ वर्ष बाद सन् १८८३ ई० में प्रकाशित हुई। हिन्दी के अधिकांश विद्वान् लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षा-गुरु' (सन् १८८२ ई० में प्रकाशित) को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानते हैं। इनके इस मत का आधार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह विधान

है --- "~~अंग्रेजी~~ अंगरेजी ढ़ँग का मौलिक उपन्यास पहलेपहल हिन्दी में लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरू' ही निकला था।"[१] परन्तु आचार्य शुक्लजी ने ही अन्य स्थान पर यह लिखा है --- "'भाग्यवती' नामका एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में उन्होंने (पं० श्रद्धाराम फुल्लौरी) लिखा जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।"[२] अत: प्रश्न यह है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'परीक्षा-गुरू' को प्रथम उपन्यास क्यों माना ? इसका कारण कदाचित् यह हो सकता है कि उपन्यास अंग्रेजी विधा से आया है और लाला श्रीनिवासदास ने 'परीक्षा-गुरू' की भूमिका में सर्वप्रथम 'नई चाल की पुस्तक' का संकेत दिया है।[३]

लाला श्रीनिवासदास बहुपठित व्यक्ति थे और उन्होंने स्वयं स्पेक्टेटर, लार्ड बेकन, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर आदि अंग्रेजी लेखकों से सहायता लेने का उल्लेख किया है।[४]

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : पृ० ४३४ ।

२. वही : पृ० ४२५ ।

३. "अपनी भाषा में अब तक वार्तारूपी जो पुस्तक लिखी गई है उन में अक्सर नायक-नायिका वगैरह का हालठाठ से सिलसिलेवार (यथाक्रम) लिखा गया है, जैसे कोई राजा, बादशाह, सेठ-साहूकार का लड़का था, उसके मन में इससे यह रूचि हुई है और उसका यह परिणाम निकला, ऐसा सिलसिला कुछ मालूम नहीं होता। लाला ~~ब्रजकिशोर~~ मदनमोहन एक अंग्रेजी सौदागर की दूकान में असबाब देख रहे हैं। लाला ब्रजकिशोर, मुंशी चुन्नीलाल, और ~~मास्ट~~ मास्टर शंभुदयाल उनके साथ हैं। इन में मदनमोहन कौन, ब्रजकिशोर कौन, चुन्नीलाल कौन और शंभुदयाल कौन हैं ? इनका स्वभाव कैसा है ? परस्पर संबंध कैसा है ? हरेक की हालत क्या है ? यहां इस समय किसलिए इकट्ठे हुए हैं ? ये बातें पहले से कुछ भी नहीं बताई गई। हां, पढ़नेवाले धैर्य से सब पुस्तक पढ़ लेंगे तो अपने-अपने मौके पर सब भेद खुलता चला जायेगा और आदि से अन्त तक सब मेल मिल जाएगा।" : लाला श्रीनिवासदास : 'परीक्षा-गुरू' : भूमिका ।

४. वही : भूमिका ।

परन्तु `भाग्यवती` और `परीक्षागुरू` दोनों को देख जानेसे इस तथ्य का पता चलता है कि दोनों सामाजिक उपन्यास हैं। दोनों के लेखकों का उद्देश्य समाजसुधार है जो उस युग की एक मुख्य प्रवृत्ति थी। `परीक्षागुरू` में मदनमोहन नामक दिल्ली के एक रईस की कहानी है जो विलासी, स्वार्थी एवं चरित्रहीन मित्रों के संग में दिवालिया हो जाता है। कुर्की आती है और सेठजी को बन्दी बना दिया जाता है। इस संकट या परीक्षा के समय में सारे चाटुकार मित्र किनारा कर जाते हैं। केवल पत्नी और ब्रजकिशोर नामक नामक एक सच्चा मित्र उन्हें साथ देते हैं और बन्दीखाने से छुड़ा लाते हैं। संकट या परीक्षा का समय ही गुरू बनकर सदासद् विवेक जागृत करता है। अत: उपन्यास अपने शीर्षक `परीक्षागुरू` को सार्थक करता है। दूसरी ओर भाग्यवती में लेखक ने एक तेजस्वी विदुषी नारी का चित्र अंकित किया है। जो पति द्वारा त्याग दिए जाने पर अपने संस्कार एवं शिक्षा के बल पर जीवन-निर्वाह चलाती है। अन्त में उसके पति का भ्रम टूटता है और वह पुन: भाग्यवती को अपना लेता है। इस उपन्यास में की समस्या आज भी उतनी ही ताज़ा एवं नवीन है। इस अर्थ में वह परीक्षागुरू से भी एक पग आगे है। अत: `भाग्यवती`को हिन्दी का प्रथम उपन्यास स्वीकार करने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

`भाग्यवती` की प्रकाशन-तिथि के सम्बन्ध में एक और उहापोह चल रही है। डॉ० गोपालराय ने श्री विजयशंकर मल्ल के मत का समर्थन करते हुए लिखा हैकि`भाग्यवती` का प्रकाशन दस वर्ष बाद सन् १८८७ ई० में हुआ था। श्री विजयशंकर मल्ल ने इसका कोई प्रमाण नहीं दिया है। `भाग्यवती` की सन् १८८७ ई० में `हिन्दी-प्रदीप` के अप्रैल अंक में प्रकाशित हुई थी। इस साक्ष्य के अनुसार `भाग्यवती` का प्रकाशन सन् १८८७ ई० में ~~मानना~~ मानना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। स्वयं डा० गोपालराय लिखते हैं --" `भाग्यवती` का प्रथम मुद्रित संस्करण मुझे उपलब्ध नहीं हो सका है। इसका पांचवां संस्करण, जो १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ था, आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध है। इसकी भूमिका के नीचे, जो स्वयं लेखक द्वारा लिखित है, संवत १९३४ वि० तिथि अं- अंकित है, जिससे

इसके रचनाकाल का पता चलता है[१]।" प्रथम भूमिका के लेखन की तिथि को भी उसकी प्रकाशन तिथि मान ली जाए तो वह संवत १९३४ वि० ठहरती है और उसमें ५७ वर्ष घटाने से ईस्वी सन् निकलती है जो १८७७ ई० ही होगी अत: निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि यह निश्चय ही परीक्षा गुरू के पहिले का उपन्यास है।

वर्गीकरण

हिन्दी के प्रारम्भिक काल की औपन्यासिक कृतियों का वर्गीकरण डॉ० श्रीकृष्णलाल, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी, डॉ० गोपालराय प्रभृति विद्वानों ने भिन्न भिन्न ढंग से थोड़े-बहुत परिवर्तनों के साथ किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए तथा आलोच्य काल की प्रातिनिधिक रचनाओं के प्रति समुचित न्याय करने की दृष्टि से इस काल के उपन्यासों को निम्नलिखित पांच शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है -- (१) अनूदित उपन्यास, (२) सामाजिक उपन्यास, (३) ऐतिहासिक उपन्यास, (४) तिलस्मी एवं ऐयारी के उपन्यास, (५) जासूसी एवं साहसिक उपन्यास।

(१) अनूदित उपन्यास : अनूदित रचनाएं किसी भी भाषा की मूल संपत्ति नहीं समझी जाती, परन्तु हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में अनूदित उपन्यासों का विशिष्ट योगदान रहा है,[२] अत: यहां उन पर संक्षेप में विचार किया गया है।

हिन्दी में बंगला, अंग्रेजी, उर्दू, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के अनूदित उपन्यास इस काल में बहुतायत से मिलते हैं, परन्तु सर्वाधिक अनुवाद बंगला से किए गए। उन दिनों बंगला उपन्यासों की धूम सारे देश में मची

---

१. डॉ० गोपालराय : 'हिन्दी उपन्यास कोश' : भाग-१ : पृ० ३४-३५।

२. "इन अनुवादों से बड़ा भारी काम यह हुआ कि नए ढंग के सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के ढंग का अच्छा परिचय हो गया और स्वतन्त्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हो गई।"
: आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : पृ. ४३५।

थी और बंकिमचन्द्र (सन् १८३८-१८६४ई०), दामोदर मुकर्जी (सन् १८५३-१९०७ई०), रमेशचन्द्र दत्त (सन् १८४८-१९०६ई०), तारकनाथ गांगुली (सन् १८४५-१८६१ई०), स्वर्णकुमारी (सन् १८५५-१९३२ई०), चण्डीचरण सेन, हारणचन्द्र रक्षित, शरत् बाबू, चारुचन्द्र आदि के उपन्यास खूब चाव से प पढ़े जाते थे ।

श्री गदाधरसिंह ने रमेशचन्द्र दत्त कृत 'बंग विजेता' और बंकिम थ चन्द्र कृत 'दुर्गेश नन्दिनी' का अनुवाद किया । श्री जनार्दन झा ने रमेशचन्द्र दत्त कृत 'माधवी कंकण' और 'राजपूत जीवन सन्ध्या' का अनुवाद क्रमश: सन् १९१२ ई० और १९१३ ई० में किया । बाबू राधाकृष्णदास ने तारकनाथ गांगुली कृत 'स्वर्णलता' का: प्रतापनारायण मिश्र ने बंकिम - चन्द्र कृत 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'राधारानी' तथा 'युगलांगुरीय' का : मुंशी उदित नारायणलाल ने स्वर्णकुमारी कृत 'दीप निर्वाण' का : तथा राधाचरण गोस्वामी मे दामोदर मुकर्जी कृत 'मृण्मयी' का अनुवाद किया किया । इनके अतिरिक्त राधाचरण गोस्वामी ने 'विरजा' और 'जावित्री' बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'चितौर चातकी' (सन् १८९५ई०), कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (सन् १९१५ई०) और प्रमिला' (१८९६ई०), 'जया' तथा मधुमालती' और बाबू गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चंचला' (१८९३ई०) 'भानुमती' (१८९४ई०), 'नये बाबू' (१८९४ई०), 'बड़ाभाई' (१९००ई०) 'देवरानी जेठानी' (१९०१ई०), 'दो बहिनें' (१९०२ई०), 'तीन पतोहू' (१९०४ई०) आदि उपन्यासों का अनुवाद किया । बाबू गोपालराम गहमरी ने प्राय: भाषानुवाद किया है । "उनकी भाषा चटपटी और वक्रतापूर्ण है । ये गुण लाने के लिये कहीं कहीं उन्होंने पूरबी शब्दों और मुहावरों का बेधड़क प्रयोग किया है । उनके लिखनेका ढंग बहुत ही मनोरंजक है ।"[१]

'चन्द्रप्रभा और पूर्णप्रकाश' एक विवादास्पद रचना है । डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, शिवनारायण श्रीवास्तव, डा० ओम प्रकाश, डॉ०

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : पृ० ४७५ ।

देवराज उपाध्याय, डा० विजयशंकर मल्ल प्रभृति विद्वान् इसे मराठी से अनूदित मानते हैं , जबकि डा० गोपालराय तथा श्रीब्रजरत्नदास इसे बंगला से अनूदित मानते हैं । इस उपन्यास में वृद्ध-विवाह का विरोध किया गया है । नायक पूर्ण प्रकाश एवं नायिका चन्द्रप्रभा बालसखा हैं और परस्पर चाहते हैं । परन्तु चन्द्रप्रभा के मामा इसका विरोध करते हैं और चन्द्रप्रभा के लिए ढूंढि-राज नामक एक बूढ़े -खूसट को ढूंढ लाते हैं । चन्द्रप्रभा की माता इस विवाह का का विरोध कर अपने भाई की इच्छा के विरुद्ध चन्द्रप्रभाकी शादी पूर्ण-प्रकाश से कर देती है । अधिकांश विद्वान् उसे भारतेन्दु द्वारा अनूदित मानते हैं जबकि डा० रामविलास शर्मा उसे किसी अन्य लेखक द्वारा ~~अनू~~ ~~अनूर्दि~~-अनूदित तथा डा० गोपालराय तथा श्रीब्रजरत्नदास इसे कोई मल्लिकादेवी नामक बंगाली महिला द्वारा अनूदित मानते हैं । `छत्रसाल` भी बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा मराठी से अनूदित उपन्यास है ।

गुजराती से मेहता लज्जाराम शर्मा ने `कपटी मित्र` नामक उपन्यास का अनुवाद किया । अंग्रेजी से रेनाल्ड्स कृत `लैला`,`लन्दन रहस्य` `नर-पिशाच` तथा श्रीमती स्टो कृत `टाम काका की कुटिया` आदि उपन्यासों का अनुवाद ~~किया~~ हुआ । उर्दू से अनुवाद करने वालों में बाबू रामकृष्ण वर्मा तथा गंगाप्रसाद गुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं । वर्माजी ने `अमला वृतान्त माला`, `कान्स्टेबल वृतान्तमाला` `ठग वृतान्तमाला` पुलिस वृतान्तमाला` आदिका तो गंगाप्रसाद गुप्त ने `पूना में हलचल` नामक उपन्यास का उर्दू से अनुवाद किया ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भिक काल में जितने प्रकार के उपन्यास उपलब्ध होते हैं -- सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी आदि -- इन सब के नमूने इन अनूदित उपन्यासों में मिल जाते हैं । अत: यह सहज ही समझा जा सकता है कि इन अनूदित उपन्यासों ने हिन्दी के मौलिक उपन्यासों को नयी ज़मीन, नया क्षितिज दिया है । इनसे प्रेरित होकर हिन्दी उपन्यास-साहित्य आगे चलकर पल्लवित एवं पुष्पित हुआ है । अत: इन उपन्यासों का हिन्दी उपन्यास-साहित्य का विकास परम्परा में ऐतिहासिक महत्व है ।

(२) सामाजिक उपन्यास : आलोच्यकाल में पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी (मृत्यु सन् १८८१ई०), लाला श्रीनिवासदास (१८५०-१८८७ई०), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४ई०) ठाकुर जगमोहनसिंह (१८५७-१८९९ई०), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७ई०), मेहता लज्जाराम शर्मा (१८६३-१९३१ई०), किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९४२ई०), अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५ १९४१ई०), ब्रजनन्दन सहाय (१८७४- () तथा मन्नन द्विवेदी (१८८४-१९२१ई०) प्रभृति उपन्यासकारों ने अपने सामाजिक उपन्यासों द्वारा हिन्दी के उपन्यास साहित्य को विकास की ओर अग्रसर किया । वस्तुत: प्रेमचन्द युग की पृष्ठभूमि तैयार करनेका श्रेय इनहीं लेखकों को जाता है ।

जैसाकि पहले विवेचित हो चुका है पण्डित श्रद्धाराम फुल्लौरी कृत `भाग्यवती` (१८७७ई०) हिन्दी का प्रथम उपन्यास है । इस कृति का निर्माण उस समय की एक प्रबल और एवं प्रखर सामाजिक चेतना -- आर्य समाजी चेतना -- के फलस्वरूप हुआ था । किसी को उसमें आर्य-समाज की के प्रचार की बू आ सकती है । फुल्लौरी उस समय के प्रखर आर्यसमाजी व्याख्याता थे । कपूरथला के महाराजा जो ईसाई मत की ओ झुक रहे थे, उनका हृदय परिवर्तन फुल्लौरीजी ने अपनी प्रकाण्ड विद्वता के द्वारा किया था । उस समय में हिन्दू-समाज में स्त्रियों की जो अवदशा थी उसे देखतेहुए ही उन्होंने उस स्थिति में सुधार लाने के हेतु `भाग्यवती` का सृजन किया था । उन दिनों `भाग्यवती` लड़कियों को पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाया भी जाता था । अत: उसमें प्रचारवादी दृष्टिकोण तो है ही । परन्तु यह सुधारवाद तो प्राय: इस काल के सभी उपन्यासों में मिलता है ।

`भाग्यवती` अत्यन्त सरल एवं साधारण शैली में लिखा गया है । भाग्यवती इस उपन्यास की नायिका है । आधुनिक काल स्त्री-शिक्षा तथा नारी-अधिकारों को लेकर विशेष चिन्तित रहा है । इस दृष्टि से उपन्यास का नायिका प्रधान होना उसकी प्रगतिशीलता का द्योतक है । भाग्यवती अपने परिश्रम से साहित्य-शास्त्र तथा चिकित्सा-शास्त्र आदि का ज्ञान प्राप्त करती है । दूसरी ओर वह गृह-कार्य में भी दक्ष है । अत: जब उसका विवाह

होता है तब वह अपनी दक्षता, शिक्षा एवं संस्कारों से श्वसुर पक्ष के सभी लोगों का मन जीत लेती है, परन्तु उसका पति मनोहरलाल किसी भ्रम के कारण भाग्यवती को छोड़ देता है। भाग्यवती नसीब को कोसने के बजाय अपनी शिक्षा के बल पर जीवन-निर्वाह की समस्या को हल कर लेती है। अन्त में उसका पति यथार्थ परिस्थिति से परिचित होकर भाग्यवती का पुनः स्वीकार कर लेता है। भाग्यवती एक पुत्र को जन्म देती है और शेष जीवन सुख-सम्पन्नता में व्यतीत करती है। इस प्रकार यह एक आदर्शवादी उपन्यास है। भाग्यवती के पति मनोहरलाल, भाग्यवती की मां, भाई, भाभी, पिता आदि यथार्थ जीवन से ही लिए गये हैं। केवल भाग्यवती का चरित्र जमाने से कुछ कदम आगे दिखता है। परन्तु लेखकीय दृष्टिकोण एवं जमाने की आवश्यकता को देखते हुए उसे क्षम्य समझना चाहिए।

लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरू' भी इस युग का एक महत्वपूर्ण उपन्यास है। इसमें दिल्ली के एक रईस सेठ मदनमोहन का चित्र अंकित है। स्वयं लेखक के अनुसार यह एक संसारी वार्ता है। सेठ मदनमोहन अपने स्वार्थी, झूठे, कपटी एवं चाटुकार मित्र मुंशी चुन्नीलाल और मास्टर शम्भूदयाल की सोहबत में विलासिता में डूब जाते हैं। मदनमोहन के एक अन्य मित्र ब्रजकिशोर एक सज्जन वकील हैं। वे सेठजी को समझाने का कई बार प्रयत्न करते हैं। परन्तु सच्ची बातें हमेशा कड़ुवी लगती हैं। परिणामस्वरूप सेठजी दिवालिये हो जाते हैं। ज़मीन-जायदाद कुर्क हो जाती है। सेठ को बन्दी बना दिया जाता है। चाटुकार मित्र काफूर हो जाते हैं। ~~अन्ततः~~ अन्ततः ब्रजकिशोरजी ही काम आते हैं और सेठजी को छुड़ाते हैं। वे सेठजी को अपनी पति-परायणा पत्नी के प्रति प्रेम रखने की सीख देते हैं। उनको अपने व्यवहार पर ग्लानि होती है और वे सही रास्ते पर लौट आते हैं।[१] लेखक के अनुसार जो बात सौ बार समझाने से समझ में नहीं

---

१. "मुझसे इस समय तेरे सामने आंख उठाकर नहीं देखा ~~जा सकता~~ जाता, एक अक्षर नहीं बोला जाता, मैं अपनी करनी से बहुत लज्जित हूं, जिस पर तू अपनी लायकी से मेरे घायल हृदय को क्यों अधिक घायल करती है।.... तूने मेरे साथ ऐसी प्रीति क्यों की ? मैंने तेरे साथ जैसी

(कृ.प.प)

आती वह एक बारकी परीक्षा से मन में बैठ जाती है और इसी वास्ते लोग परीक्षा को गुरू मानते हैं।

'परीक्षागुरू' पर लेखक के व्युत्पन्न व्यक्तित्व की अमिट छाप है। पाण्डित्य-प्रदर्शन के मोह ने उपन्यास की कलात्मकता को चोट पहुंचायी है तथापि तत्कालीन समाज का जो यथातथ्य चित्र लेखक ने अंकित किया है वह सशक्त और प्रभावशाली है। विलासी मदनमोहन भारतीय समाज के पतन का प्रतीक है और उसके अवसरवादी मित्र स्वार्थवादिता का परिचय देते हैं। दूसरी ओर ब्रजकिशोर एवं उनकी पत्नी भारतीय आदर्शों को रूपायित करते हैं। इस प्रकार चरित्र-चित्रण में लेखक को पर्याप्त सफलता मिली है। संवादों के आयोजन में भी लेखक ने अपने कौशल का परिचय दिया है। साधारणत: दिल्ली की बोली का ही प्रयोग लेखक ने किया है, परन्तु गंभीर विषयों की मीमांसा में भाषा का स्तर थोड़ा ऊपर उठ गया है। डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी के शब्दों में ---

"'परीक्षागुरू' का महत्व हिन्दी उपन्यास के विकास में निर्विवाद है। कमजोरियां उसमें हैं -- जो कि प्रत्येक अग्रगामी कृति में होनी अनिवार्य है। कलात्मक त्रुटियों का होना आश्चर्य की बात नहीं, न होना ही आश्चर्य की बात होती। .... उनका उपदेशक यदि बेहद सजग न होता तो शायद कलाकार को कुछ उभरने का मौका मिल पाता किन्तु दुर्भाग्यवश उनकी उपदेश-प्रवृत्ति ने कला का कण्ठ जकड़ लिया है।"[१]

बालकृष्ण भट्ट इस युग के एक अन्य महत्वपूर्ण उपन्यासकार हैं। उनके तीन उपन्यास मिलते हैं --'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६ई०), 'सौ अजान एक सुजान' (१८९२ई०) और 'रहस्य-कथा' (अपूर्ण)। विषय-वस्तु की दृष्टि से इनमें कोई नवीनता नहीं मिलती। 'नूतन ब्रह्मचारी' में ब्रह्मचारी

क्रूरता की थी वैसी ही तूने मेरे साथ क्यों नहीं की ? मैं निस्सन्देह तेरी इस प्रीति के लायक नहीं हूं।" : 'परीक्षागुरू' पृ० ।

१. हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण' : पृ० १९ ।

विनायक के सरल व्यवहार द्वारा डाकुओं के सरदार का हृदय-परिवर्तन दिखाया गया है। यह उपन्यास विद्यार्थियों को चारित्रिक शिक्षा देने के लिए लिखा गया है। दूसरे उपन्यास की कथावस्तु `परीक्षागुरु` की-सी है। इस में अवध-निवासी सेठ हीराचन्द के दो पौत्र बुद्धिनाथ और निधिनाथ की कथा है। चाटुकार मित्रों (सौ अजान) की संगत में वे गुमराह हो जाते हैं। उनका शिक्षक चन्द्रशेखर (`परीक्षागुरु` के ब्रजकिशोर की भांति) उन्हें खूब समझाता है। परन्तु वे नहीं सुधरते। चन्द्रशेखर उनका साथ छोड़ देता है। वे जालसाज़ी के अपराध में पकड़े जाते हैं। अन्त में चन्द्रशेखर (एक सुजान) उन्हें आकर बचा लेता है।

यह उल्लेखनीय है कि यथार्थ-चित्रण की ओर भट्टजी का अधिक झुकाव उन्हें एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है। उनकी भाषा भी भाव एवं पात्रों के अनुरूप बदलती रहती है। " उनके उपन्यासों में चित्रित निम्न-वर्गीय पात्र अवधी भाषा में बोलते हैं, अदना सरकारी नौकर उर्दू मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं और पढ़े-लिखे बाबू लोगों की भाषा में अँग्रेजी का पुट मिलता है।.... देशकाल का उन्होंने अपने उपन्यासों में पर्याप्त ध्यान रखा है। उनका ज्ञान केवल किताबी नहीं --- वे आँखें खोलकर समाज में विचरते हैं। कहीं कहीं उनके पात्र जीवन्त होकर हमारे सामने आते हैं। व्यंग्य का प्रयोग करने में वे सच्चे अर्थ में प्रेमचन्द के अग्रगामी थे हैं।..... समाज के धर्माधिकारी और पूंजीपति शोषकों के प्रति प्रेमचन्द के व्यंग्य का तीखा दंश इसी परम्परा का विकसित रूप है।[१] " अतः अपनी इस यथार्थपरक शैली एवं दृष्टि के कारण प्रेमचन्दजी के पुरोगामियों में भट्टजी का स्थान निर्विवादित रूप से माना जाएगा।

राधाकृष्णदास की ख्याति मूलतः नाटककार के रूप में है, परन्तु उन्होंने सोलह वर्ष की आयु में ही `निस्सहाय हिन्दू` नामक एक उपन्यास लिखा था जो १८९० ई० में प्रकाशित हुआ। यह लेखक के किशोर वय की कृति है अतः इस में भावातिरेक का होना स्वाभाविक है। वैचारिक

---

१. डा० महेन्द्र चतुर्वेदी : `हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण` : पृ० २०।

प्रौढ़ता का अभाव है । भारतेन्दु द्वारा प्रणीत `भारत-दुर्दशा` और `भारत-जननी` का प्रभाव इस पर स्पष्टतया दिखता है । इसकी कथा-वस्तु गोरक्षा आन्दोलन से सम्बन्धित है । इसमें भारतवासियों की अकर्मण्यता एवं उनकी दुरावस्था का चित्रण भी मिलता है । इन्होंने भी भारतेन्दु की भाँति अंग्रेजी-राज्य के सुख-साज का गुणगान किया है ।" किन्तु एक दृष्टि से यह उपन्यास अपने ढंग का पहला उपन्यास है, क्योंकि इसके द्वारा निम्न-वर्ग को पहली बार मंच पर लाया गया है । निम्नवर्गीय जीवन की दरिद्रता और दुर्दशा का प्रथम बार इस उपन्यास में दर्शन होता है ।[१] अत: हम कह सकते हैं कि राधाकृष्णदास में एक समर्थ उपन्यास लेखक की प्रतिभा थी किन्तु उसे वि विकसित होने का समुचित अवसर नहीं मिला क्योंकि उनका अधिकांश समय नाटक-लेखन में बीता और बयालीस वर्ष की अल्पायु में ही उनका निधन हो गया ।

मेहता लज्जाराम शर्मा मूलत: अखबारनवीस थे । वे कट्टर सनातनी और आदर्श-वादी थे । जिन्दगी में अनेक संघर्षों से गुज़रना पड़ा । (उनका जन्म भी ९ महीने तक माँ के उदर में रहने के बाद हुआ था ।[२]) ऐसी स्थिति में यदि वे अपनी सनातनी कट्टरता एवं संकुचितता से ऊपर उठते तो निश्चय ही अपने उपन्यासों में गहरी मानवीय संवेदना का संस्पर्श करा सकते । उन्होंने कुल १३ उपन्यास लिखे जिनमें `धूर्त रसिकलाल` (१८९९ई०) `स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी` (१८९९ई०), `आदर्श दम्पति` (१९०४ई०), `बिगड़े का सुधार` (१९०७ई०) तथा `आदर्श हिन्दू` (१९१४ई०) आदि प्रसिद्ध है । `धूर्त रसिकलाल` में रसिकलाल की धूर्तता द्वारा सेठ सोहनलाल के सर्वनाश की कथा है । `स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी` का गठन शर्माजी के सनातनी विचारों के प्रभावस्वरूप हुआ है । इसमें `रमा और लक्ष्मी नामक दो बहिनों की कथा है । `रमा अंग्रेजी शिक्षा से प्रभावित होकर स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहती है । लक्ष्मी भारतीय संस्कृति के अनुकूल पतिव्रता नारी का जीवन व्यतीत करती है । लेखक तुलनात्मक आधार पर भारतीय नारी के पातिव्रत की महत्ता को सिद्ध करता है । इनके अन्य उपन्यास भी इसी प्रकार के सुधारवादी सनातनी दृष्टिकोण लिए हुए हैं जिनकी परिगणना सामान्य कोटि के उपन्यासों में ही की जाएगी । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि ये उपन्यासकार नहीं अखबारनवीस थे ।[३]

---

१. डा० महेन्द्र चतुर्वेदी : `हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण` : पृ० २१ ।

२. `हिन्दी साहित्यकोश : भाग-२ :` पृ० ५१६-५१७ ।

३. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ४७८ ।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' भी वस्तुत: उपन्यासकार न होकर कवि हैं। इनके दो उपन्यास -- 'ठेठ हिन्दी का ठेठ ठाठ' (१८९९ई०) तथा 'अधखिला फूल' (१९०७ई०) -- औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं, भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से उल्लेखनीय समझे गये हैं।[1] इनमें क्रमश: अनमेल विवाह का दुष्परिणाम तथा धर्मकी महत्ता, अन्धविश्वासों का कुपरिणाम आदि दिखाया गया है।[2]

~~इनमें~~

मन्नन द्विवेदी गजपुरी इस प्रारम्भिक काल के एक सशक्त उपन्यास लेखक है। इनके दो उपन्यासों ---'रामलाल' (१९१७ई०) और 'कल्याणी' (१९२०ई०) --में पिछला उपन्यास 'कल्याणी' प्रेमचन्द युग' का है। आलोच्यकाल में 'रामलाल' आता है। जो अपने ग्रामीण परिवेश के कारण कुछ अलग पड़ता है। इसमें समाज के सभी वर्गों का शहरी एवं ग्रामीण --पुलिस, अदालत, पटवारी, पोस्टमैन, भगत, साहूकार -- आदि सभी का व्यंग्यपूर्ण चित्रण किया है जो सहज ही उन्हें प्रेमचन्दीय स्कूल से जोड़ता है। इसमें रामलाल नामक एक असहाय एवं अनाथ व्यक्ति के संघर्ष की कहानी आदर्शान्ति ढंग से कही गई है।

प्रारम्भकालीन सामाजिक उपन्यासों के इस दौर में अभी तक तीन महत्वपूर्ण उपन्यासकार अचर्चित रह गए हैं ---किशोरीलाल गोस्वामी, ठाकुर जगमोहनसिंह तथा ब्रजनन्दन सहाय। गोस्वामीजी इस युग के एक मूर्धन्य उपन्यासकार थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी के मतानुसार वे साहित्यिक कोटि के प्रथम उपन्यासकार थे।[3] ठाकुर जगमोहनसिंह तथा ब्रजनन्दन सहाय के उपन्यास सामाजिक होते हुए भी भिन्न प्रकार के हैं ~~जिन्हें~~ जिन्हें हम प्रेमाख्यानक कह सकते हैं। इनके उपन्यास काव्यात्मक संस्कार लिए हुए हैं। बंगला के गद्यकाव्य की छटा इनमें मिलती है। प्रकृति का भी जितना सुन्दर वर्णन इन दोनों में मिलता है अन्यत्र दुर्लभ है। ठाकुर जगमोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' (१८८८ई०) आधुनिक समाज के स्वतन्त्र प्रेमविवाह की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। लेखक ने स्त्री स्वातन्त्र्य एवं प्रेमभावना की पवित्रता पर भी बल दिया है। इसमें ~~इस~~ ब्राह्मणकुमारी श्यामा और क्षत्रिय कुमार श्याम सुन्दर के भावनात्मक प्रेम की कहानी है तथा जाति-पांति को माननेवाले रूढ़ीवादी समाज में भी दोनों के प्रेम विवाह की

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ० ४७८।

२. विशेष विवरण के लिए देखिए : 'हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भिक विकास' : डॉ० कुमारी शैलबाला : पृ० १३८-१३९।

सम्भावना बताकर लेखक ने सचमुच ही अपने साहस का परिचय दिया है। इसमें मध्य-कालीनप्रेम-कहानियों के सखी, दूती, प्रेम-पत्र, मिलन और विरह आदि सभी उपकरण मिलते हैं। इसका प्राकृतिक चित्रण संस्कृत के कवियों की स्मृति दिलाता है।[1]

बाबू ब्रजनन्दन सहाय ने बंगला -कथा साहित्य से प्रभावित होकर दो प्रेमाख्यानक सामाजिक उपन्यास लिखे -- `सौन्दर्योपासक` (१९१२ई०) और `राधाकान्त` (१९१८ई०) `सौन्दर्योपासक` में नायक अपनी साली से प्रेम करता है। साली उसे चाहती है। उसकी अन्यत्र शादी हो जाती है प्रेम की विषमता के कारण साली यक्ष्मा से पीड़ित होकर मृत्यु के शरण में पहुंच जाती है। इधर नायक की पत्नी इस तथ्य से अवगत होकर दुःखी रहने लगती है और कुछ दिनों के बादउसका भी स्वर्गवास हो जाता है। बेचारा नायक दोहरे विरह-ताप में जलता रहता है। `राधाकान्त` आत्मकथात्मक शैली में दो खण्डों में लिखा गया है। प्रथम खण्ड में राधाकान्त तथा द्वितीय खण्ड में उसके मित्र हरेन्द्र की आत्मकथा दी गई है। इसके पहले आत्मकथात्मक शैली में अन्य दो उपन्यास मिलते हैं -- हनुमन्तसिंह रघुवंशी कृत `चन्द्रकला` (१८९३ई०) और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी कृत `संसारचक्र` (१८९९ई०)।

किशोरीलाल गोस्वामी इस युग के एक मूर्धन्य उपन्यासकार हैं। अंग्रेजी के विक्टोरियन युगीन उपन्यासकार एन्टनी ट्रालप के अनुसार गोस्वामीजी ही एक ऐसे उपन्यासकार थे जो शुद्ध दृष्टि से उपन्यासकार ही थे। प्रारम्भ में उन्होंने कुछ दूसरे काव्य-रूपों पर हाथ लगाया किन्तु बाद में जब उपन्यास में आये तो उसमें पूरी तरह रम गये। इन्होंने छोटे-बड़े कुल ६५ उपन्यास दिए। इनके उपन्यासों में इस युग की सारी औपन्यासिक प्रवृत्तियां मिलती हैं। इनके विचारों में हिन्दू-धर्म की सनातनी कट्टरता दिखाई पड़ती है। मुसलमानों के प्रति वे अनुदार थे। उनकी अपेक्षा वे अंग्रेजों को बरदाश्त करना ठीक समझते थे। उनके अनुसार हिन्दू जाति संसार में सर्वश्रेष्ठ और हिन्दू धर्म सर्वाधिक मान्य और प्राचीन धर्म है। धर्म के प्रति यह आग्रह उनके उपन्यासों में भी कहीं कहीं अत्यन्त प्रबल रूप से दिखाई पड़ता है। सनातन धर्म के प्रति अगाध एवं अटूट आस्था होने के कारण आर्य समाज द्वारा प्रवर्तित सामाजिक सुधारों के वे विरोधी थे। स्त्री-शिक्षा को वे आवश्यक नहीं मानते थे। उनके उपन्यासों में कर्म-फल न्याय की अभिव्यक्ति हुई है।

इनके सामाजिक उपन्यासों में 'त्रिवेणी या सौभाग्यवती' (१८९०ई०), लीलावती या आदर्श सती' (१९०१ई०), राजकुमारी' (१९०२ई०), 'चपला या नव्य समाज' (१९०३-४ई०), पुनर्जन्म या सौतियाडाह' (१९०७ई०), 'माधवी माधव या मदन म मोहिनी (१९०९-१०ई०), 'अंगूठी का नगीना' (१९१८ई०) आदि प्रसिद्ध है।

'त्रिवेणी' में मनोहरदास नामक एकधर्मात्मा व्यक्ति के नौका-दुर्घटना के कारण अपनी पत्नी से बिछुड़ने और मिलने की कथा है। 'लीलावती' में लीलावती और कलावती नामकदो स्त्रियों की कहानी है।सनातनी फार्मूला के अनुसार लीलावती सती-सदाचारिणी स्त्री है और उसकी दूसरी बहन कलावती नवीन समाज की चमक-दमक सेप्रभावित है। अत: लीलावती जहांललितकिशोर नामक व्यक्ति से प्रेम करके सुखी होती है वहां कलावती बालकृष्ण नामक एक लम्पट व्यक्ति के साथ भागकर सिविल-मैरेज करती है। उसकी वासना अतृप्त रहती है। वह पुन: एक नौकर के साथ भाग जाती है। फिर तो यह क्रम -सा हो जाता है। अन्ततोगत्वा एक घृणित रोग से पीड़ित होकरयमुना में कूदकर आत्महत्या कर लेती है। 'राजकुमारी' उपन्यास मेंमुंगेर के जमींदार कीपुत्री सुकुमारीउनके दीवानकी कूटनीति से पैदा होते ही दीवान के घर पहुंचा दी जाती है और दीवान का पुत्र मानिक जमींदार के यहां पहुंच जाता है। अन्त में मानिक और सुकुमारी का व्याह हो जाता है। 'चपला या नव्य समाज' बृहद्काय और अपने समय का बहुचर्चित उपन्यास है। उपन्यास की मुख्य कहानी दो परिवारों से सम्बन्ध रखती है --राजा राधाकिशोर का परिवार और बाबू हरप्रसाद का परिवार। राजा साहब के दो पुत्र हैं -- कमलकिशोर और ब्रजकिशोर। बाबू हरप्रसाद की तीन पुत्रियां हैं -- कामिनी, चपला और कादम्बिनी। ब्रजकिशोर सदाचारी है। उसका व्याह कादम्बिनी से होता है और कमलकिशोर लम्पट, दुष्ट और फलत: नव्य समाज का प्रतिनिधि है। (अलबत्ता गोस्वामीजी के अनुसार) वह चपला को उसके घर से उड़ाकर अपने तिलस्मी मकान में बन्द कर देता है। परचपला टस सेमस नहीं होती। अन्त में उसके दुष्कृत्यों का भण्डा फूटता है। पुलिस उसे गिरफ्तार कर लेती है।अन्त में वह आत्महत्या कर लेता है। इस प्रकार गोस्वामीजी के प्राय: सभी उपन्यास एक बने-बनाये फार्मूला के अनुसार चलते हैं। इन उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०ई०), प्रेममयी' (१९०१ई०), 'स्वर्गीय कुसुम या कुसुमकुमारी' (१८९९ई०), 'चन्द्रावती' (१९०५ई०), तरुण तपस्विनी' (१९०६ई०), 'इन्दुमती' (१९०६ई०) आदि उनके उल्लेखनीय सामाजिक उपन्यास हैं।

गोस्वामीजी के उपन्यास प्राय: सभी उपन्यास नायिका-प्रधान हैं और उनमें प्रेम के विभिन्न रूपों का चित्रण मिलता है। श्रृंगार-वर्णन में उनकी प्रवृत्ति प्राय: रीतिकालीन रही है। एक ओर जहां इन्होंने सती-साध्वी स्त्रियों के आदर्श प्रेम का चित्रण किया है। वहां दूसरी ओर साली बहनोई के अवैध प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन, देवदासियों की विलासलीला आदि का भी सजीव आकलन किया है। 'सु' और 'कु' को साथ दिखाकर 'सु' के विजय द्वारा अपने आदर्श की स्थापना करना उनका मु मुख्य प्रयोजन रहा है। परन्तु साथ ही साथ उनकी रीतिकालीन ऐन्द्रियताने भी अपना रंग दिखाया है। कहीं कहीं गोस्वामीजी के प्रेम-चित्र उद्दाम वासना का स्पन्दन लिए रह रहते हैं, उनमें प्रेम के स्थान पर विकट इन्द्रिय-लिप्सा की अभिव्यक्ति हुई है। प्रेम अपने आप में उदात्त विषय है किन्तु उसकी विकृति साहित्य को गर्हणीय बना देती है। कहीं कहीं तो वे अत्यन्त निम्न कोटि की वासनात्मकता के प्रकाशन में उलझकर रह गये हैं।"[१] परन्तु चरित्र-चित्रण और संवाद-योजना में अपने समकालीनों से वे आगे हैं। यहां हम डा० महेन्द्र चतुर्वेदी के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं कि " जहां सनातन धर्म-प्रचारक, हिन्दू राष्ट्रवादी, रीतिकालीन रसिक कवि किशोरीलाल पर कलाकार किशोरीलाल विजय पा गए हैं, वहीं जीवन के कुछ मार्मिक, जीवन्त और प्रभावशाली चित्रों की उद्भावना हुई है।"[२]

उपर्युक्त उपन्यासों के अतिरिक्त श्री देवीप्रसाद शर्मा शर्मा कृत 'सुन्दर सरोजनी जनी' (१८९३ई०), श्री बाल मुकुन्द वर्मा कृत 'मालती' (१९०४ई०), श्री कमलाप्रसाद कृत 'कुल-कलंकिनी' (१९०५ई०), लोचनप्रसाद पाण्डेय कृत 'दो मित्र' (१९०६ई०), रामजी दास वैश्य कृत 'सती' (१९०७ई०), ईश्वरीप्रसाद शर्मा कृत 'हिरण्यमयी' (१९०८ई०) तथा 'स्वर्णमयी' (१९१०ई०), श्री कृष्णलाल वर्मा कृत 'चम्पा' (१९१६ई०) और श्यामकिशोर वर्मा कृत 'काशीयात्रा' (१९१६ई०) आदि सामाजिक उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

(३) ऐतिहासिक उपन्यास : वस्तुत: इस काल के ऐतिहासिक माने जाने वाले उपन्यासों को अंशत: ऐतिहासिक उपन्यास या ऐतिहासिक रम्याख्यान (Historical Romance) कहना अधिक समुचित होगा क्योंकि उपन्यास की इस विधा के लिए इतिहास, संस्कृति, एवं पुरातत्व विधा का जो सूक्ष्म अध्ययन होना चाहिए उसका इस काल के उपन्यासकारों में प्राय: अभाव-सा दिखता है। इस काल के प्रसिद्ध ऐतिहासिक उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी ने स्वयं अपने उप-

न्यास 'तारा' (१६०२ई०) की भूमिका में लिखा है --' हमने अपने बनाए उपन्यासों में ऐतिहासिक घटना को गौण और अपनी कल्पना को मुख्य रखा है और कहीं कहीं तो कल्पना के आगे इतिहास को दूर से ही नमस्कार भी कर दिया है।' कहीं कहीं तो उपन्यास में चित्रित नायक-नायिका इतिहास-प्रसिद्ध भी नहीं है, सिर्फ उन्हें किसी प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति या काल के साथ जोड़ दिया गया है। 'सोना और सुगन्ध' (१६०६-१६ई०) के नायक-नायिका पन्नाबाई और मानिक इतिहास प्रसिद्ध नहीं हैं। केवल पन्नाबाई को अकबर के जौहरी हीराचन्द की पुत्री बताई गई है और उस के लिए लेखक ने कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिया है। सच पूछा जाय तो सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों धाराओं में प्रौढ़ता एवं परिपक्वता प्रेमचन्दयुग में क्रमशः मुंशी प्रेमचन्द और वृन्दावनलाल वर्मा के कारण आयी है। परन्तु इससे इन प्रारम्भकालीन उपन्यासों का महत्व तनिक भी कम नहीं होता क्योंकि ये वह बुनियाद है जिस पर हिन्दी- उपन्यास का प्रासाद खड़ा हुआ है।

इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१६३२ई०), गंगाप्रसाद गुप्त, मथुराप्रसाद शर्मा, बलदेवप्रसाद मिश्र, बाबू ब्रजनन्दन सहाय, मिश्रबन्धु प्रभृति प्रसिद्ध हैं। इनमें भी किशोरीलाल गोस्वामी का स्थान सर्वोपरि है। इनके उपन्यासों में 'तारा वा क्षात्र कुल कमलिनी' (१६०२ई०), कनककुसुम वा मस्तानी' (१६०३ई०), सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (१६०४ई), हृदयहारिणी' वा आदर्श रमणी' (१६०४ई०), 'लवंगलता वा आदर्शबाला' (१६०४ई०), मल्लिकादेवी वा बंग सरोजिनी' (१६०५ई०), 'सोना और सुगन्ध वा पन्नाबाई' (१६०६-१६ई०) 'गुलबहार वा आदर्श भातृस्नेह' (१६१८ई०) तथा 'लखनऊ की कब्र या शाही महलसरा' (१६१७ई०) आदि उल्लेखनीय हैं।

गोस्वामीजी के 'तारा' उपन्यास में ऐतिहासिक छानबीन मिलती है। इसको रूपायित करने में लेखक ने कर्नल टाड कृत 'राजस्थान' फ्रेन्च यात्री बर्नियर के यात्रा विवरण, एक बंगला प्रबन्ध तथा सिग्नर म्यानसी के लिखित विवरण की सहायता ली है। तारा जोधपुर नरेश महाराज गजसिंह के ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंह की पुत्री है। गजसिंह किसी बात से अप्रसन्न होकर अमरसिंह को देश-निकाला दे देता है, अतः वह शाहजहां के दरबार में आश्रय पाता है। तारा जहांआरा की सखी हो जाती है। उसका विवाह उ उदयपुर के युवराज राजसिंह के साथ निश्चित हो चुका था परन्तु बादशाह के खजांची

सलाबतखां की उस पन्ने पर बुरी नजर थी । एक दिन अमरसिंह भरे दरबार में सलाबतखां की हत्या कर डालता है और अन्त में राजसिंह और तारा का विवाह हो जाता जाता है। 'कनककुसुम वा मस्तानी' में हैदराबाद के निज़ाम की भोग्या एक हसीन औरत की पुत्री मस्तानी और बाजीराव पेशवा के प्रणय की रोमांसपूर्ण कथा वर्णित है। 'सुलताना रजिया' में रजिया बेगम और उसके अस्तबल के दारोगा हब्शी याकूत की प्रणय-कथा और उनका दुर्भाग्यपूर्ण अन्त वर्णित है । इस प्रकार गोस्वामीजी ने प्राय: ऐतिहासिक प्रणय-कथाओं को ही लिया है ।

अन्य ऐतिहासिक उपन्यासों में गंगाप्रसाद गुप्त द्वारा लिखित 'नूरजहां' (१९०२ई०), 'वीर पत्नी' (१९०३ई०), 'कुमारसिंह सेनापति' (१९०३ई०), 'हम्मीर' १९०३ई०) : जयरामदास गुप्त कृत 'काश्मीर पतन' (१९०७ई०), 'रंग में भंग' (१९०७ई०), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिदअली शाह' (१९०९ई०), 'मल्का चांद बीबी' (१९०९ई०) : मथुराप्रसाद शर्मा कृत 'नूरजहां बेगम वा जहांगीर' (१९०५ई०) : बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'अनारकली' (१९००ई०), 'पृथ्वीराज चौहान' (१९०२ई०), 'पानिपत' (१९०२ई०) : बाबू ब्रजनन्दन सहाय कृत 'लालचीन' (१९१६ई०) : मिश्रबन्धु कृत 'वीरमणि' (१९१७ई०) आदि उल्लेखनीय हैं ।

इस काल के उपन्यास प्राय: मुसलमान युग से सम्बन्धित हैं और उन में शुद्ध इतिहास की अपेक्षा लोक-प्रचलित कथाओं का अधिक आश्रय लिया गया है । डा० महेन्द्र चतुर्वेदी के शब्दों में, 'इनकी सबसे बड़ी कमजोरी ही यह है वे कहीं भी ऐतिहासिक वातावरणकी सृष्टि करने में सफल नहीं हुए ।युगीन संस्कृति, वातावरण, महत्त्व चरित्रों की जीवन-झांकियाँ तथा मानवीय भावनाओं के चित्र उनमें नहीं उभरते ।'[1] आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी गोस्वामीजी के उपन्यासों में देशकाल की त्रुटियों का संकेत दिया है है ।[2] तथापि जैसा कि पहले बताया जा चुका है इन उपन्यासों का महत्व औपन्यासिक परम्परा की दृष्टि से ~~अक्षुण्ण~~ अक्षुण्ण है ।

---

१. डॉ० महेन्द्र चतुर्वेदी : 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' : पृ० ८८ ।

२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' : पृ०४७५

(४) तिलस्मी एवं ऐयारी के उपन्यास : हिन्दी की औपन्यासिक विकास-परम्परा में इन उपन्यासों का स्थान उनकी कलात्मकता के कारण नहीं, प्रत्युत हिन्दी उपन्यास को लोकप्रियता दिलाने के कारण है। इनसे हिन्दी-उपन्यास को लाभ-हानि दोनों हुआ है। अधिकाधिक लोगों का ध्यान सर्जनात्मक साहित्य की इस नयी विधा की ओर गया, यह उसका लाभ है। डा० महेन्द्र चतुर्वेदी के शब्दों में, "उपन्यास नाम की अज्ञात साहित्य-विधा को जन-रुचि का केन्द्र बना देने में उतना योगदान शायद किसी भी एक लेखक का नहीं रहा जितना देवकीनन्दन खत्री का[१]।" कई अहिन्दीभाषी लोगों ने उस समय हिन्दी केवल इसलिए सीखी कि वे 'चन्द्रकान्ता' व 'चन्द्रकान्ता सन्तति' को पढ़ सकें। हानि यह हुई कि हिन्दी का पाठक इस धरती की महक को भूलकर कल्पना के मायालोक में जा पहुंचा। उसके लिए उपन्यास शुद्ध पलायन की वस्तु हो गया। इन उपन्यासों का और कोई महत् उद्देश्य नहीं होता था। केवल सतही मनोरंजन जो किशोर वय के पाठकों को गुदगुदा सके कभी भी उपन्यास का काम्य नहीं हो सकता। वस्तुतः इन उपन्यासों से हिन्दी उपन्यास के विकास में गतिरोध पैदा हो गया और जो पौधे फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट आदि ने रोपे थे वे इनकी लोकप्रियता की बाढ़ में बह गये। प्रायः यह जो कहा जाता है कि प्रेमचन्द ने हिन्दी उपन्यास को नया मोड़ दिया, इसका कारण भी यही है। वस्तुतः प्रेमचन्द ने एक चली आती हुई औपन्यासिक परम्परा -- फुल्लौरी, लाला श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, मन्नन द्विवेदी आदि की -- को आगे बढ़ाकर विकसित एवं परिपक्व किया था। अतः इनके कारण उपन्यास की सच्ची एवं वास्तविक धारा में अवरोध की स्थिति को हानि के रूप में लक्ष्य किया जा सकता है।

'तिलस्म' शब्द यूनानी 'टेलेस्मा' का हिन्दी संस्करण है। इसका अर्थ जादू इन्द्रजाल, अलौकिक रचना या गड़े हुए धन या खजाना आदि के ऊपर बनाई गई सर्प की आकृति आदि होते है।[२] प्राचीन काल में राजा या अत्यन्त धनवान लोग इस प्रकार

---

१. डा० महेन्द्रचतुर्वेदी : 'हिन्दी उपन्यास : एक सर्वेक्षण' : पृ० ८८।

२. देखिए : 'हिन्दी उपन्यास' : सं. डॉ. सुषमा प्रियदर्शिनी : पृ.१४२।

के तिलस्मी महल बनवाते थे। तिलस्म बांधने में बड़े-बड़े ज्योतिषियों और तान्त्रिकों की सहायता ली जातीथी। अत: जिन उपन्यासों में नायक द्वारा तिलस्म को तोड़कर अपनी इच्छित वस्तु -- खजाना या राजकुमारी आदि -- पाने की कथा रहती है उसे तिलस्मी कहा जाता है। इस तिलस्म को तोड़ने में ऐयार नायक का साथ देता था। ऐयार अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ तीव्रगामी या चपल व्यक्ति होता है। ऐयार बड़ा कुशल और हर-फन मौला होता है। अत: इन दोनों को जोड़कर हिन्दी में 'तिलस्मी -ऐयारी' ऐसा शब्द गढ़ लिया गया।

तिलस्म की कहानियां फारसी से उर्दू में होते हुए हिन्दी में आयीं। 'तिलस्मे होशरूबा' फारसी की प्रख्यात कृति है। इन उपन्यासों में कहानी-दर- कहानी का गोरखधन्धा चलता रहता है, जिसमें पाठक की केवल जिज्ञासा-वृत्ति को तृप्त किया जाता है। बुद्धिपक्ष जो उपन्यास के लिए विशेषत: आवश्यक है, यहां उपेक्षित रह जाता है।

देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३ ई०) इस धारा के प्रवर्तक एवं अग्रणी उपन्यासकार हैं। इनके पूर्वज लाहौर-निवासी थे परन्तु महाराजा रणजितसिंह की मृत्यु के बाद काशी में आकर रहने लगे। काशी-नरेश की कृपा से इनको चकिया तथा नौगढ़ के जंगलों का ठेका मिल गया। जंगलों में घूमते हुए अनेक प्राचीन इमारतों को देखकर इनकी अद्भुत कल्पना-शक्ति जागृत हुई और उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' (१८८८ ई०) लिखकर हिन्दी-साहित्य में तहलका मचा दिया। इनकी कृतियों में 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता सन्तति' (१८८८-१८९६ ई०), 'नरेन्द्र मोहिनी')१८९३ ई०), 'वीरेन्द्र वीर' (१८९५ ई०), 'कुसुमकुमारी' (१८९९ ई०), 'काजर की कोठरी' (१९०२ ई०), 'गुप्त गोदना' (१९०६ ई०), 'भूतनाथ- प्रथम ६ भाग - (१९०६ ई०) आदि प्रमुख हैं। चन्द्रकान्ता उपन्यास की नायिका विजयगढ़ की राजकुमारी चन्द्रकान्ता है। नौगढ़ के राजकुमार वीरेन्द्रसिंह उसके प्रेमी हैं। वह अपनी सखी चपला के साथ एक तिलस्म में फंस जाती है। राजकुमार अपने ऐयारों की सहायता से उसे मुक्त कराते हैं और अन्त में दोनों का मिलन होता है। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' में महारानी चन्द्रकान्ता के दो पुत्रों की कथा वर्णित है। इन उपन्यासों में खत्रीजी की अद्भुत कल्पना शक्ति एवं प्रबन्ध-

-पटुता के दर्शन होते हैं। अने कहानी-सूत्र चलते हैं परन्तु लेखक उन सबको अपनी कल्पना की लगाम के सहारे थामे रहता है। कर्म-फल का सिद्धान्त यहाँ भी लागू हुआ है।

इस धारा के अन्य उपन्यासकारों में हरेकृष्ण जौहर कृत `कुसुम लता`(१८९९), `भयानक भ्रम` (१९०० ई०), `नारी पिशाच` (१९०१ ई०), `मयंक मोहिनी या माया महल` (१९०० ई०), `जादूगर` (१९०१ ई०), `कमल कुमारी` (१९०२ ई०), `निराला नकाब पोश (१९०२ ई०) तथा `भयानक खून` (१९०३ ई०) : किशोरीलाल गोस्वामी कृत `तिलस्मी शीश महल` (१९०५ ई०) : देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र बाबू दुर्गाप्रसाद खत्री [illegible] कृत `रोहतास मठ` : ( देवकीनन्दन खत्री रचित `भूतनाथ` को भी इन्होंने ही पूरा किया था। ) गुलाबदास कृत `तिलस्मी बुर्ज` : तथा रामलाल वर्मा कृत `पुतली का महल आदि उल्लेखनीय हैं।

(५) जासूसी एवं साहसिक उपन्यास : ये उपन्यास स्थूल घटनात्मक उपन्यासों की कोटि में आते हैं और प्राय: यात्रा की बोरियत से बचने के लिए तथा समय काटने के लिए पढ़े जाते हैं। अत: इनका दृष्टिकोण भी पलायनवादी ही है। परन्तु जहां तिलस्मी उपन्यासों में काल्पनिक जगत का चित्रण मिलता है, वहां जासूसी उपन्यासों में घटनाएं यथार्थ जीवन से सम्बन्धित होती हैं। उनमें विज्ञान की अधुनातम खोजों का भी सहारा लिया जा जाता है। कुतूहल ऐसे उपन्यासों का प्राणतत्व है। उपन्यासकार अन्त तक कुतूहल बनाये रखता है। अधिकांश जासूसी उपन्यासों में आखिर में ऐसा व्यक्ति अपराधी सिद्ध होता है जिस पर पाठकोंका ध्यान बहुत कम जाता है।इसमें घटना-चक्र विपरीत दिशा में चलता है। सामाजिक और जासूसी उपन्यास में यह अन्तर है कि जहां सामाजिक उपन्यास में समाज के विस्तृत फलक पर चरित्र-सृष्टि का निर्माण होता है, वहाँ जासूसी उपन्यास में केवल स्थूल घटना -- और वह भी अपराध सम्बन्धी -- को ही लिया जाता है।

अधिकांश जासूसी उपन्यास इस सिद्धान्त पर काम करते हैं कि अपराधी व्यक्ति चाहे जितनी होशियारी बरते अपने पीछे वह कोई न कोई संकेत छोड़ जाता है। इन संकेतों को पकड़ने में जासूसी उपन्यासकार की सफलता का आधार है।

बाबू गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६ ई०) हिन्दी उपन्यास की इस शाखा के के प्रमुख उपन्यासकार हैं। कई आलोचकों ने उन्हें हिन्दी का कानन डायल` कहा है। सर्वप्रथम उन्होंने बंगला से एक जासूसी उपन्यास `हीरे का मोल` सन् १८९८ ई० में अनुवादित किया। उसकी प्रसिद्धि से उत्साहित होकर उन्होंने सन् १९०० ई० में गहमर से `जासूस` नामक एक पत्र निकाला जिसमें उनके कई उपन्यास प्रकाशित हुए। इन्होंने लगभग २०० जासूसी उपन्यास लिखे जिनमें `अद्भुत लाश` (१८९६ ई०), `सरकती लाश` (१९००ई०), `जमुना का खून` (१९०० ई०), `डबल जासूस` (१९०० ई०), `जासूस की भूल` (१९०१ ई०), `जासूस की चोरी` (१९०२ ई०), `जासूस चक्कर में` (१९०२ ई०), `लाईन पर लाश` (१९१०) `गुप्त भेद` (१९१३ ई०) और `जासूस की ऐयारी` (१९१४ ई०) आदि प्रसिद्ध हैं।

इनके अतिरिक्त रामलाल वर्मा कृत `चालाक चोर`, `जासूस के घर खून`, अस्सी हजार की चोरी` : किशोरीलाल गोस्वामी कृत `जिन्दे की लाश` (१९०६ ई०): जयरामदास गुप्त कृत लंगडा खूनी` (१९०७ ई०), तथा रामदासलाल कृत `हम्माम का मुमुर्दा` (१९०३ ई०) आदि जासूसी उपन्यास उल्लेखनीय हैं।

साहसिक उपन्यासों में डकैती आदि की कहानियां रहती हैं। ऐसे उपन्यासों में प्राय: सामाजिक शोषण आदि के कारण किसी व्यक्ति का डाकू हो जाना बत बताया जाता है। ऐसे डाकू प्राय: सेठ- साहूकारों तथा धनवानों को लूटते हैं, अत: पाठकों की सहानुभूति उनके साथ होती है। अंग्रेजी के उपन्यासकार रेनाल्ड्स का प्रभाव इन उपन्यासकारों पर देखा जा सकता है। इन उपन्यासों में स्वतन्त्रता- संग्राम के विद्रोहियों तथा बागियों को भी चित्रित किया गया है। देवकीनन्दन खत्री के पुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने अपने उपन्यासों में राष्ट्रीयता एवं वैज्ञानिक क्रानित का भी सन्निवेश किया है, परन्तु इनके उपन्यास विषय-वस्तु की दृष्टि से इस काल के होते हुए भी प्रेमचन्द युग में लिखे गये हैं। साहसिक उपन्यासों में निहालचन्द वर्मा कृत `अनन्त कान्ता कान्ता` (१९१५ ई०) : विट्ठलदास नागर कृत `किस्मत का खेल` : बांकेलाल चतुर्वेदी कृत `खौफनाक खून` (१९१२ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं।

इस काल के उपन्यासों के उपर्युक्त विवेचन से जो बात सर्वप्रथम लक्षित होती है वह यह है कि इस काल के सभी प्रकार के उपन्यासों में स्थूल घटनात्मकता सर्वाधिक परिमाण में उपलब्ध होती है। जासूसी तथा तिलस्मी एवं ऐयारी के उपन्यास तो स्थूल घटनाप्रधान है ही, प्रत्युत सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यासों मे भी घटना का

वही रूप सामने आता है। संक्षेप में ऊपर निर्दिष्ट तथ्यों के प्रकाश में हम निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंच सकते हैं :

(१) प्रथमत: इस काल के सामाजिक उपन्यासों में सुधारवादी उपदेश-प्रधान दृष्टिकोण मिलता है। यह सुधारवाद भी प्राय: दो कोटियों का है --आर्यसमाजी और सनातनी। उपदेश व्यंजित होने की अपेक्षा प्रत्यक्षत: आने के कारण औपन्यासिक कला को क्षति पहुंची है। घटनाओं के निरूपण में प्राय: सामाजिक यथार्थ को चित्रित किया गया है, किन्तु उपन्यासों का अन्त कर्म-फल न्याय के अनुसार आदर्शवादी ढंग से हुआ है।

(२) द्वितीयत: इस काल के अधिकांश उपन्यासों में चरित्र-चित्रण, सार्थक संवाद योजना और लेखकीय जीवन-दृष्टि का अभाव मिलता है। उपदेश की दृष्टि से इन उपन्यासों में दो प्रकार की प्रवृत्तियां मिलती हैं -- सामाजिक सुधारवाद और मनोरंजन। मनोरंजन प्रधान उपन्यासों में जासूसी तथा तिलस्मी तथा ऐयारी के उपन्यास आते हैं। इन उपन्यासों का अन्त भी ~~कर्म-फल~~ कर्म-फल न्याय के अनुसार हुआ है।

(३) तृतीयत: इस काल के ऐतिहासिक उपन्यासों में प्राय: ऐतिहासिक दृष्टि का अभाव-सा दिखता है। इन्हें ऐतिहासिक उपन्यास न कहकर ऐतिहासिक प्रेमाख्यानक (Historical Romance) अधिक उचित होगा।

(४) मेहता लज्जाराम शर्मा जैसे कुछ अपवादों को छोड़कर इस काल के अधिकांश उपन्यासकार आर्थिक संकटों से मुक्त होने के कारण उनके उपन्यासों में आर्थिक-संघर्ष की तिक्तता एवं तल्खी का प्राय: अभाव-सा दिखता है।

(५) शिल्प की दृष्टि से हिन्दी उपन्यास का यह काल प्रायोगिक भूमिका में है। कथा-तन्तुओं का संयोजन यहां अपेक्षाकृत सरल एवं पूर्व-निर्मित परम्पराओं के अनुकूल है। इस काल के कतिपय उपन्यासकारों पर अंग्रेजी उपन्यासों के शिल्प का प्रभाव स्पष्टतया लक्षित किया जा चुका है। लाला श्रीनिवासदास तथा मेहता लज्जाराम शर्मा जैसे उपन्यासकारों ने क्रमश: स्पैक्टेटर, गोल्डस्मिथ, विलियम कूपर और रेनाल्ड्स तथा श्रीमती स्टो प्रभृति अंग्रेजी के उपन्यासकारों का अध्ययन ही नहीं किया था, प्रत्युत मेहताजी ने तो उनके उपन्यासों का अनुवाद भी किया था।

अत: उनमें अंग्रेजी उपन्यासों के शिल्प का प्रभाव दृष्टिगत होता है जो कहीं कहीं तो अंग्रेजी के अवतरण-सा प्रतीत होता है। देवकीनन्दन खत्री ने कथा-शिल्प के फारसी रूप को अंगीकृत करते हुए भी उसे शत-प्रतिशत उसी रूप में न लेकर उसमें कुछ नवीनता लाने की चेष्टा की है। ठाकुर जगमोहनसिंह की भाषा-शैली पर जहां संस्कृत का प्रभाव है वहां बाबू ब्रजनन्दन सहाय बंगला से प्रभावित हैं। कथा-शिल्प के प्रारम्भिक विकास को देखते हुए उनके द्वारा आत्मकथात्मक शैली में प्रणीत उपन्यास 'राधाकान्त' का शिल्पगत वैशिष्ट्य उल्लेखनीय रहेगा।

शिल्प-सौष्ठव की दृष्टि से इन उपन्यासों में अपरिपक्वता के रहते हुए भी इनका महत्व अपरिहार्य है क्योंकि शिल्प-चेतना की जो प्रौढ़ता प्रेमचन्द युग में उपलब्ध होती है, जो हमारे अगले अध्याय के चिन्तन का विषय है, उसकी भूमिका यहां से निर्मित होती है।

oooooooooooooooo oooooooooooooooo